© 2017 IJSRSET | Volume 3 | Issue 8 | Print ISSN: 2395-1990 | Online ISSN : 2394-4099
Themed Section : Engineering and Technology

उत्तरकालीन बौद्धाचार और बौद्ध विचार

डॉ0 नीलम यादव
प्रवक्ता
पं0 जवाहरलाल नेहरू इण्टर कालेज
बाँसगाँव गोरखपुर।

उत्तरकालीन बौद्ध सम्प्रदाय बौद्ध धर्म के आचार–विचार से बहुत कुछ भिन्न हो गये थे। आवश्यकता पड़ने पर आचार शिथिलता को बुद्ध ने क्षम्य माना था। यही शिथिलता अग्रिम आचार शिथिलता की जननी रही और एक दिन बौद्ध सम्प्रदायों के परस्पर आचार–विचार में पूर्व– पश्चिम व उत्तर–दक्षिण जैसा भेद उत्पन्न हो गया। जैनाचार्य बौद्धों की इस शिथिलता के विरोधी प्रारम्भ से ही रहे हैं। सूत्रकृतांग में भी इसी विरोध के स्वर सुनाई पड़ते हैं।

सूत्रकृतांग में बौद्धों पर प्राणतिपात, अदिन्नादान, मृषावाद, मैथुन व परिग्रह रखने का दोषारोपण किया गया है। इन दोषों का मुख्य कारण यह था कि बौद्ध अत्यन्त असंयत हो गये थे। उनका कहना था––सुख से सुख की प्राप्ती होती है, दुःख से सुख नहीं मिलता। अतः लुञ्चन आदि से मुक्ति–प्राप्ति सम्भव नहीं। यह आचार धारणा बन जाने पर वे उक्त पापों में अभिरत हो जाते हैं।[1] जिनदास गणि और शीलांकाचार्यने इस मत को एकमत से बौद्धमत माना है। शीलांक ने तो बौद्धों पर सावद्य अनुष्ठान करने तथा गो, महिष्यज, उष्ट्र, धन धान्य, द्विपद, चतुष्पदादि परिग्रह रखने का दोषारोपण स्पष्ट रूप से किया है। आगे की गाथा में 'एवमेगे उपासत्था' में आये हुए पासत्थ शब्द का अर्थ पार्श्वस्थ किया गया है और इन पार्श्वस्थों में शीलांक ने बौद्धों को भी सम्मिलित किया है। ये पार्श्वस्थ्य कुशील सेवक तथा स्त्री परिषह से पराजित बनाये गये हैं। इसलिए अनार्थ कर्मकारी होने के कारण उन्हें अनार्थ भी कह दिया गया। उनके अनुसार प्रियादर्शन सदैव बना रहे। उसके समक्ष अन्य दर्शनों की क्या आवश्यकता। उसी सराग चित्त से निर्वाण प्राप्ति होती है।

प्रियादर्शन मेवास्तु किमन्यै दर्शनान्तरैः।
प्राप्यते येन निर्वाणं, सरागेणापि चतसा।।[2]

आगे की गाथाओं में कहा गया है कि बौद्धों के अनुसार जैसे पके हुए फोड़े को फौड़ने पर राध, रूधिर निकालने से मुहूर्त मात्र में आराम हो जाता है वैसे ही विषय भोग की प्रार्थना करने वाली स्त्री के साथ सम्पर्क करने में कौन कौनसा दोष है? और भी अनेक उदाहरण दिए गये हैं। यथा–जैसे कंपिजल पक्षी आकाश में उड़ता हुआ जल–पान करता है, पर जल को कष्ट नहीं देता उसी प्रकार प्रार्थना करने वाली स्त्री से कामभोग सेवन करने में क्या दोष! जैसे भेड़ अपने घुटनों को पानी में झुकाकर पानी को गन्दा किये बिना ही धीरे–धीरे स्थिरता पूर्वक पीता है उसी प्रकार राग रहित चित्त वाला मनुष्य अपने चित्त को दूषित

1. इह मेगे उ भासंति, सातं सातेण विज्जती।
   जे तत्य अरियं मग्गं, परमं च समाहिए (यं)।। 3.4.6.
   पाणाइवाते वहंता, मुसावादे असंजता।
   अदिन्नादारगे वहंता, मेहुरगे ये परिग्गहे।। 3.4.8.
2. सूत्र. वृत्ति, पृ. 9711 (शीलांकाचार्य कृत विवरण सहित आगमोदय समिति बम्बई द्वारा प्रकाशित, 1917)

किये बिना स्त्री के साथ संभोग करता है। इसमें कोई दोष नहीं। वृत्तिकार ने यह मत नीले वस्त्र वाले बौद्ध विशेषों (बौद्ध विशेषाः नीलपटादयो) का माना है।[1] बौद्धों में कौनसा सम्प्रदाय नीले वस्त्र पहनता था, अज्ञात है। सम्भव है कोई वज्रयानादि बौद्ध शाखा रही हो।

अन्यत्र कहा है कि वे शाक्यादिक सचित जलपान, (अप्रासुक जल) सचित वीजयक्षज तथा उद्दिष्ट भोजन कर आर्तध्यान करते हैं। वे धर्म अवेदज्ञ तथा असमाधिवन्त हैं।[2] शीलांक ने लिखा है कि शाक्य भिक्षु मनोहर आहार, बसति, शय्यासनादिक राग के कारणों का

ध्यान करते हैं, उपयोग करते हैं। संज्ञान्तर क्षमाश्रमण के कारण वे इसे निर्दोष मानते हैं।[3]जैसे ढ़ंक, कंक, कुलल, मंमु इत्यादि पक्षी मत्स्य गवेषण के लिए कलुषता युक्त ध्यान करते हैं वैसे ही ये मिथ्यादृष्टि अनार्य साधु दुष्ट ध्यान करते हैं।[4]

'सातं सातेण' युक्ति का आधार लेकर बौद्ध मानते है कि जिस प्रकार शालि बीज से शाल्यड्कर ही होता है, दुख से नहीं। कहा है–– मनोज्ञ भोजन कर मनोज्ञ शय्या पर सोकर तथा मनोज्ञ घर में रहकर मुनि ध्यान करता है––

यह उल्लेख किस ग्रन्थ से शीलांकाचार्य ने किया है, अज्ञात है। यदि यह किसी बौद्ध ग्रन्थ से उद्घृत किया गया है तो और भी महत्वपूर्ण है। यह असीव भी नहीं। उत्तरकाल में बौद्धों ने भी अपना साहित्य प्राकृत भाषा में निबद्ध करना प्रारम्भ कर दिया था। प्राकृत धम्मपद इसका प्रमाण है।

उक्त आलोचना जैसी आलोचना और भी की गई है कि बौद्ध भिक्षु अत्यन्त कोमल शय्या पर सोते हैं। प्रातःकाल उठकर दुग्धादि का पान करते, दोपहर में भोजन करते, अपरान्ह में पुनः कोई पेय द्रव्य लेते तथा अर्धरात्रि में द्राक्षा खण्ड और शर्करा लेते। इसी दिनचर्या से शाक्यपुत्र मुक्ति की प्राप्ति मानते हैं–

1. वही, 3.4.10–13 वृत्ति, पृ. 97–98; मिलाइये, चित्तविशुद्धिप्रकरण, 47
2. ते य बीओदकं चेव तमुद्दिस्सा य जं कडं।
   भोच्चा झाणं झियायंति, अरवेयन्ना असमाहिया।। सत्र. 11. 26
3. मणुण्णं भोयणं भूज्जे.....।
   मंसनिवति काण्डं सेवई दतिक्क नंति धमिमेया।
   इय च चइउणारीभं परववएसा कुणइ बालो। वही
4. वही, 11. 27. 28.

मृद्धी शय्या प्रातरूत्थाय पेया भक्त मध्ये पानक चापरान्हे।
द्राक्षाखण्ड शर्करा चार्द्ध रात्रे मौक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः।।[1]

आगे इस सिद्धान्त का खण्डन किया गया है और सम्यक्ज्ञान पूर्वक कृत तपस्या को मुक्ति का साधन माना गया है। परमार्थ चिन्तक महापुरूष के लिए यह कष्ट भी सुख का कारण है।[2]

तण संथारनिवष्णो वि मुनिवरो यट्ठ रागमय ओहो।
जं पावइ मुत्तिसुहं कत्तो तं चक्कवट्टी वि ?।।

तथा––

दुःखं दुष्कृत संशयाय महतां क्षान्ते पदं वैरिण।
कायस्याशुचिता विराग पदवी संवेग हेतुर्जरा।।
सर्व त्याग महोत्सवाय मरणं जातिः सुहृत्प्रीतये
संपद्भिः परिपूरितं जगदिदं स्थानं विपत्तेः कुतः ।।

बौद्ध भिक्षुओं की आचार–शिथिलता देखकर सूत्रकृतांग में उन्हें अनार्य मिथ्यादृष्टि कहा गया है तथा यह कहा गया है कि जिस प्रकार जात्यन्ध पुरूष छिद्र वाली नौका में चढ़कर जब समुद्र पार करने की इच्छा करता है तो समुद्र में ही डूब जाता है वैसे ही कितने ही मिथ्यादृष्टि अनार्थ साधु कर्माश्रव की अधिकता से नरकादिक के दुःख प्राप्त करते हैं। वे मुक्ति पथ से विमुख हो जाते हैं।[3]

बौद्ध साधुओं का यह आचार निश्चय ही उत्तर कालीन बौद्ध भिक्षुओं का आचार रहा होगा जिसका उल्लेख शीलांकाचार्य ने विशेष रूप से किया है। यह नवीं–दसवीं शती के बौद्ध जीवन का आँखों देखा वर्णन होगा। उस समय बौद्ध धर्म व दर्शन विकृत हो गया था। अतः यह आचार शैथिल्य असंभव नहीं।

1. वही, 1. 3. 4. 6.की वृत्ति पृ. 96.

2. वही
3. जहा आसावणं जाई अंधो दुरूहिया।
   इच्छई परमागं तु अन्तराय बिसीयं।।
   एवं तु समणा एगे मिच्छादिट्ठी अणारिया।
   सोयं कसिणमावन्ना आगंतारो महाव्ययं।। सू. 1. 11. 30–31.

थेरगाथा में भविष्य के भिक्षुओं की आस्था व दिनचर्या का वर्णन किया गया है जो उक्त वर्णन से मिलता–जुलता है। थेरगाथा के प्रणयन काल में बौद्ध भिक्षुओं में यह शिथिलता आ चुकी होगी जिसकी चरम परणति का आभास यहाँ प्रस्तुत किया गया है। वहाँ कहा गया है कि पुरूषोत्तम बुद्ध के रहते भिक्षुओं की चर्या दूसरी थी पर अब कुछ और ही हो गई है। पहिले के भिक्षु अधिक नम्र और कर्माश्रव को दूर करने में दत्तचित रहते, पर अब ऐसे भिक्षु अत्यल्प हैं।[1]

यहीं यह शंका भी व्यक्त की गई है कि यदि ऐसी ही शिथिलता बनी रही तो बौद्ध शासन विनष्ट हो जायगा। ये पाप वासनाएँ उनके अन्दर उन्मत्त राक्षसों जैसी खेल रही हैं। वासनाओं के वश में होकर वे सांसारिक वस्तुओं की प्राप्ति मे यत्र तत्र दौड़ लगा रहा है। सद्धर्म को छोड़कर असद्धर्म को श्रेष्ट मानते हैं। भिक्षा के लिए कुकृत्य का आचरण करते हैं। वे सभी शिल्प सीखते हैं और गृहस्थों से अधिकाधिक प्राप्ति की आकांक्षा करते हैं। वे भिक्षु औषध के विषय में वैद्यों की तरह हैं, कामधाम में गृहस्थों की तरह हैं, विभूषण में गणिकाओं की तरह हैं और प्रताप में क्षत्रियों की तरह है। वे धूर्त हैं, वाञ्चनिक हैं, ठग हैं और असंयमी हैं तथा आमिष का उपभोग करने वाले हैं।[2] लोभ के वशीभूत होकर धनसंग्रह करते, स्वार्थ के लिए धर्मोपदेश देते, संघ के भीतर संघर्ष करते व परलाभ से जीविका करते हुए लज्जित नहीं होते।[3]

मांस भक्षण––सूत्रकृतांग में जिनदासगणि व शीलांक ने बौद्ध धर्म को क्रियावादी अथवा कर्मवादी दर्शन माना है। उनके इस दर्शन की कर्म विषयक मान्यता को दुःखस्कन्ध वर्धक माना है। कम्मचिंतायणट्ठाणं संसारस्य पवड्ढणं (2.1.24)। चूर्णिकार ने दुःखस्कन्ध का अर्थ कर्मसमूह माना व वृत्तिकार ने आसातोद परम्परा। दोनों व्याख्याओं में कोई अन्तर नहीं है।

1. अञ्त्रथा लोपनाथम्हि तिटठन्ते पुरिसुत्तमे।
   इरियं असि भिक्खूनं अञ्त्रथा दानि दिस्सति। थेरगाथा 921
   सब्बासवपरिक्खीणा महाझायी महाहिता।
   निब्बुता दानि ते थेरा परित्ता दानि तादिसा।। थेरगाथा 928
2. भेसज्जे सु यथा वेज्जा, किच्चाकिच्चे यथा गिही।
   गणिका व विभूसांय इस्सरे खत्तिप्त यथा।।
   नेकतिका वञ्चनिका कूटसक्खी अपाटुका।
   बहूहि परिकप्पेहि आमिसं परिमुञ्जरे।। वही. 968.9
3. वही, 940–942

निर्युक्तिकार ने बताया कि परिज्ञोपचित (मनोव्यापार) अविज्ञोपचित (शरीर व्यापार) ईर्यापथ व स्वप्नान्तिक ये चतुर्विध कर्म उपचय को प्राप्त नहीं होते–– चतुर्विध कर्म नोपचीयते भिक्षु समय।'' इस प्रसंग में उन्होंने बताया कि प्राणी, प्राणिज्ञान, घातकचित, घातककिया ओर प्राण वियोग ये पाँच कारण हिंसा के हैं। उक्त चतुर्विध कर्म में ये पाँच कारण नहीं हेाते। अतः हिंसा नहीं।

जैसे दीवाल पर फेंकी गई धूलि स्पर्श के बाद ही बिखर जाती है इसी तरह ये चतुर्विध कर्म स्पर्श के बाद ही नष्ट हो जाते हैं। इसलिए उन कर्मों का उपचय नहीं होता। कर्म बन्ध के तीन कारण हैं कृत, कारित व अनुमोदन। इनमें भाव–विशुद्धि के कारण कर्म का उपचय नहीं होता। इसके समर्थन में एक उदाहरण दिया गया है कि जैसे राग द्वेष रहित कोई गृहस्थ पिता किसी बड़ी विपत्ति के समय

उसके उद्धारार्थ आहार के लिए अपने पुत्र को मारकर उसका माँस भक्षण करता हुआ भी कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता इसी प्रकार साधु भी माँस भक्षण करता हुआ भी कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता––

पुत्त पिया समारब्भ अहारेज्ज असं जये।
मुञ्जमाणों य मेहावी कम्मणा नोवलिप्पई।।[1]

संयुक्त निकाय में इस प्रकार की एक कथा मिलती है जहाँ शरीर सामर्थ्य बढ़ाने के उद्देश्य से एक पिता अपने पुत्र का वध कर उसका माँस भक्षण कर लेता है फिर भी बौद्ध धर्म की धष्टि से पिता बधक (हिंसक) नहीं। यह आपपातिक नियम है। नायाधम्म कहाओ के सुंसुमा अध्ययन में भी लगभग ऐसा ही उल्लेख आता है। सूत्रकृताँग केवल मनः प्रद्वेषो अपि अनवद्य कर्मोपचयाभाव'' इस मत का खण्डन किया गया है।[2]कहा गया है कि उसके चित का विकल्प व्यापार हिंसा का कारण है। परव्यापादित पिशितभक्षरगे पर'' हस्ताकृष्टाड. घरिदाहामावपन्न दोष' यह मत भी ठीक नहीं क्योंकि परीक्षा अनुमति तो इसमें रहती ही है।

मानसिक संकल्प ही बौद्ध मत में हिंसा का कारण है। जैसे तिल अथवा सरसों की खली पिण्ड को पुरूष मानकर कोई उसका नाश करे तो उसे हिंसा का दोष लगेगा इसके विपरीत पुरूष को खली समझकार अथवा कुमार को अलाबु समझकर उसका नाश करने वाला प्राणिबध का दोषी नहीं होता। इतना ही नहीं इस प्रकार की बुद्धि से पकाया गया पुरूष अथवा कुमार का माँस बुद्धों के भोजन के लिए विहित माना गया है। इस प्रकार पकाए हुए माँस द्वारा जो उपासक अपने सम्प्रदाय के दो हजार भिक्षुओं को भोजन कराते हैं वे महान् पुण्यस्कन्ध का उपार्जन करते हैं और उसके द्वारा आरोग्य नामक देवयोनि में जन्म लेते हैं।

1. सू. प. 2. 2. 28।
2. वही, 1. 2. 2. 29 वृत्ति भी देखिये।

बौद्ध मतावलम्बियों की इस मान्यता को आद्रक कुमार खण्डित करते हुए कहते हैं कि खली को पुरूष समझाना अथवा अलाबु को कुमार समझना कैसे सम्भव है? ऐसा समझने वाले अज्ञानी हैं। वे औद्देशिक माँस का भक्षण करने वाले हैं, जिह्वा के स्वाद में आसक्त हैं।[1]

सूत्रकृतांग के क्रियास्थान नामक द्वितीयाध्यान में विविध क्रियास्थानों का परिचय दिया गया है। क्रियास्थान का तात्पर्य है–– प्रवृत्ति का निमित्त। विविध प्रवृत्तियों के विविध काम होते हैं । इन्हीं कारणें को क्रियास्थान कहा गया है। ये क्रियास्थान दो प्रकार के होते हैं–– धर्मक्रिया स्थान और अधर्मक्रिया स्थान। अधर्मक्रिया के 12 व धर्मक्रिया का एक भेद हैं। इस प्रकार कुल भेद क्रियास्थान के 13 हैं। बौद्ध मत के अनुसार हिंसा 5 अवस्थाओं में संभावित है। अतएव अकस्मात दण्ड, अनर्थ दण्ड वगैरह को वहाँ हिंसा रूप नहीं गिना जा सकता।

सूत्रकृताँग के इन बौद्धाचार सम्बन्धी उल्लेखों के देखने से स्पष्ट है कि उत्तर कालीन बौद्ध सम्प्रदाय अत्याधि शिथिल हो गये थे। अपने धर्म के परिपालन में माँस भक्षण उनमें अधिक प्रचलित था। भले ही वह त्रिकोटिपरिशुद्ध रहा हो। पालि साहित्य में भी बौद्धों को माँस भक्षण करते हुए देखा गया है। सीह सेनापति बुद्ध का उपासक हो जाने पर बुद्ध संघ के लिए माँस मिश्रित भोजन (सीहसुत्त) देता है जिसका तीव्र विरोध निगण्ठों ने किया इसका। मूल कारण यह है कि दोनों धर्मों में माँस–भक्षण अथवा अहिंसा की परिभाषा ही भिन्न रही है।

बौद्ध विनय की शिथिलाचार वृत्ति के इतिहास–दर्शन से यह स्पष्ट है कि विनय की विकास परम्परा महायान में एकायक नहीं आयी प्रत्युत उसके सूत्र बुद्धकाल से ही जुटते रहे। भिक्खुपातिमोक्ख और भिक्खुणी पातिमोक्ख की संरचना जिन घटनाओं के आधार पर हुई उससे यह अनुमान लगाना सहज हो जाता है कि बौद्ध संघ में आचारहीनता प्रारम्भ हो चुकी थी। वहाँ प्रायः षड्वर्गीय भिक्षु अैर सत्तरसवर्गीय भिक्षुओं तथा थुल्लनन्दा, सुन्दरीनन्दा और षड्वर्गीय भिक्षुणियों के माध्यम से विनयशैथिल्य के प्रसंग एकत्रित किये गये हैं। पर थेरगाथा के पारापरिय और फुस्स जैसे भिक्षुओं का भविष्य के बौद्ध भिक्षुओं के आचारदर्शन के प्रति अनुमान कथन हमें यह कहने को बाध्य करता है कि तबतक संघ में पर्याप्त भ्रष्टाचार चल पड़ा था। वज्रयान आदि शाखाओं में उसी आचार का वृद्धिड़गत रूप उपलब्ध होता है।

स्थविरवाद के बाद सर्वास्तिवाद भी एक प्रभावक बौद्ध सम्प्रदाय हुआ है। महावस्तु उनका विनय ग्रन्थ माना जाता है। परन्तु पूरे ग्रन्थ के देखने से यह सही नहीं लगता। वह विनय नहीं बल्कि भगवान् बुद्ध की लोकोत्तरवादी जीवनगाथा है। इसका लेखक और काल भी एक नहीं माना जा सकता।

1. वही, 2. 6. 2. 42।

इस महावस्तु में बोधिसत्व की चार प्रकार की चर्यायें कही गयी हैं– प्रकृतिचर्या (कुशलमूलो का अवरोपण), प्रणिधानचर्या (कुसलमूल प्रणिधान), अनुलोमचर्या (चक्रवर्तीभूत) और अनिवर्तनचर्या (तथागत होने की प्रतिज्ञा)। इसी प्रकार चार उपसम्पदाओं का भी उल्लेख है–– स्वामी उपसम्पदा, एहिभिक्षुकाय उपसम्पदा, दशवर्गेन गरगेन उपसम्पदा, ओर पञ्चवर्गेन गरगेन उपसम्पदा।

स्थविरवाद की अपेक्षा मूलसर्वास्तिवाद में विनय नियमों की संख्या अधिक है। विनय पिटक (हिन्दी अनुवाद) की भूमिका में श्री महा–राहुल सांकृत्यायनने स्थविर–वाद और मूलसर्वास्तिवाद में अवगत विनय नियमों की तुलना से भी यह स्पष्ट है।

1. भिक्षु नियम	स्थविरवाद	मूलसर्वास्तिवाद
1. पाराजिक	4	4
2. संघादिसेस	13	13
3. अनियत	2	2
4. निस्सग्गिय–पाचित्तिय	30	30
5. पाचित्तय	92	90
6. पाटिदेसनिय	4	4
7. सेखिय	75	112
8. अधिकरण–समथ	7	7
	227	262

2. भिक्षुणी नियम	स्थविरवाद	मूलसर्वास्तिवाद
1. पाराजिक	8	8
2. संघादिसेस	17	20
3. निस्सग्गिय–पाचित्तिय	30	33
4. पाचित्तय	166	180
5. पाटिदेसनिय	8	8
6. सेखिय	75	112
7. अधिकरण–समथ	7	7
	311	371

उक्त तुलना से यह भी सपष्ट हो जाता है कि भिक्खुणी विनय में भिक्खुविनय की अपेक्षा नियमों की संख्या अधिक है। स्थविरवाद भिक्खुणी विनय में पाराजिक चार, संघादिसेस चार, पाचित्तिय चोहत्तर, और पाटिदेसनीय चार, नियम अधिक है। अनियत नियम भिक्खुणी विनय में हैं ही नहीं। निस्सग्गिय–पाचित्तिय, सेखिय अैर अधिकरणसमथ दोनों में समान हैं। मूलसर्वास्तिवादी विनय में नियमों की यह संख्या और अधिक हो गई है। लगता है, भिक्षुणियों के स्वतन्त्रता देने के बावजूद उन पर प्रतिबन्ध अपेक्षकृत अधिक थे। निष्पक्ष रूप से यदि विचार किया जाये तो भगवान् बुद्ध भी नारी वर्ग के प्रति अधिक उदार नहीं हो सके। पार्श्वनाथ और महावीर भी नहीं हुए। इसका कारण शायद यही रहा हो कि नारी की जन्मजात कमजोरियों से ये महापुरूष अपरिचित नहीं थे।

बौद्ध विनय के अधिकांश नियम जैन विनय से प्रभावित जान पड़ते हैं। वर्षावास आदि के नियम स्पष्ट रूप से जैन नियमों को देखकर बनाये गये हैं। निसीथसूत्र और पातिमोक्ख की भाषा, शैली ओर विषय की समानता इस सन्दर्भ में उपेक्षणीय नहीं है।